दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

वर्ष नववाँ
अंक दसवाँ

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

पौष
२४८०

सुखी होने के लिये क्या करें ?

जीव ज्ञानस्वभावी है; वह सुखी होना चाहता है; वर्तमान में उसे अल्पज्ञता और दुःख है, उसे टालकर वह सर्वज्ञता और सुख प्रगट करना चाहता है। तो सर्वज्ञता अर्थात् एक समय में परिपूर्ण जाने ऐसा ज्ञान; वह सर्वज्ञता प्रगट होने की शक्ति कहाँ है ? शरीर की क्रिया में, संयोगों में या निमित्त में सर्वज्ञता प्रगट होने की शक्ति नहीं है; राग में भी वह शक्ति नहीं है और वर्तमान अल्पज्ञ पर्याय है, उसमें से भी सर्वज्ञता प्रगट हो—ऐसी उसकी शक्ति नहीं है। आत्मा के ध्रुव ज्ञानस्वभाव में सर्वज्ञता प्रगट होने की शक्ति सदैव भरी है। उस ज्ञानस्वभाव का विश्वास करके उसका अवलम्बन लेने से सर्वज्ञता और पूर्ण आनन्द प्रगट होता है। इसलिये जिसे सुखी होना हो, उसे अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय करना चाहिये। [—प्रवचन से]

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

१०६

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सुवर्णपुरी समाचार

परम-पूज्य गुरुदेव के प्रभाव से सौराष्ट्र में अनेकों जिन-मन्दिरों का निर्माण हुआ है; उनके पंचकल्याणक प्रतिष्ठा और वेदी प्रतिष्ठा के मंगल-प्रसंगों के हेतु से पूज्य गुरुदेव माघ कृष्णा तृतीया, बुधवार ता. २१-१-५४ के दिन सोनगढ़ से विहार करेंगे। उसी दिन पूज्य स्वामीजी उमराला ग्राम पहुँचेंगे और वहाँ ''कहानगुरु जन्मभूमि स्थान'' तथा ''उजमबा स्वाध्यायगृह'' का उद्घाटन होगा।

उमराला से राजकोट होते हुए पूज्य गुरुदेव लगभग माघ शुक्ला दसवीं तक गिरनार तीर्थ की यात्रा के लिये जायेंगे। बाद में पोरबन्दर आदि स्थानों पर पधारेंगे। प्रतिष्ठा के मुहूर्त निम्नानुसार हैं:—

पोरबन्दर	(पंचकल्याणक प्रतिष्ठा)	फाल्गुन शुक्ला ३
मोरबी	('' '')	चैत्र शुक्ला २
बांकानेर	('' '')	चैत्र शुक्ला १३
वढवाण सिटी	(वेदी प्रतिष्ठा)	वैशाख कृष्णा ८
वढवाण केम्प	('' '')	वैशाख शुक्ला ३
राणपुर	('' '')	वैशाख शुक्ला १३
बोटाद	('' '')	ज्येष्ठ कृष्णा ७
उमराला	('' '')	ज्येष्ठ शुक्ला ४

* * *

पूज्य गुरुदेव के विहारकाल में सोनगढ़ में जैन अतिथि-सेवा-समिति और पुस्तक-बिक्री विभाग बन्द रहेंगे।

आत्मधर्म

पौष : २४८० ☆ वर्ष नववाँ ☆ अंक दसवाँ

भव्य जीवों के कल्याण के हेतु से उपकारी श्रीगुरुओं ने

कैसा उपदेश दिया ?

[समस्त जिनशासन का सार]

उपकारी श्रीगुरुओं ने शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जानकर उसका उपदेश प्रधानता से दिया है... वीतरागी संतों की पुकार है कि शुद्धस्वभाव के आश्रय से ही मोक्ष होता है, इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी उपाय से तीनकाल तीनलोक में मोक्ष नहीं हो सकता।

भूतार्थस्वभाव के आश्रय से ही कल्याण होता है; इसलिये भूतार्थस्वभाव को बतलानेवाला शुद्धनय ही आश्रय करने योग्य है;—ऐसा श्रीगुरओं का उपदेश है; व्यवहारनय आश्रय करने योग्य नहीं है। एक अभेद आत्मवस्तु में गुण-गुणी के भेद करके कथन करना, वह व्यवहार है। ज्ञान और ज्ञानी के भेद से कथन करनेवाला जो व्यवहार है, उससे भी परमार्थ मात्र ही कहा जाता है; इसप्रकार व्यवहारनय, परमार्थ का प्रतिपादक है; परन्तु वह व्यवहार स्वयं अनुसरण करने योग्य नहीं है; परमार्थस्वभाव ही आश्रय करने योग्य है।

व्यवहार, वह परमार्थ का प्रतिपादक है; लेकिन किसे ? जो जीव व्यवहार का लक्ष छोड़कर परमार्थ स्वभाव को लक्ष में ले ले उसे; जो जीव परमार्थ स्वभाव को लक्ष में न ले और व्यवहार का ही आश्रय करके अटक जाये, वह तो व्यवहारमूढ़ अज्ञानी है; उसे समझाने के लिये आचार्यदेव

कहते हैं कि हे भाई! व्यवहारनय स्वयं तो अभूतार्थ है; इसलिये वह आश्रय करने योग्य नहीं है। व्यवहार से भेद करके कथन किया, वहाँ भी हमारा आशय तो परमार्थ को ही बतलाने का था; इसलिये तू व्यवहार का आश्रय छोड़ और अभेदरूप परमार्थ वस्तु को लक्ष में ले।

अहो! आचार्यदेव कहते हैं कि व्यवहार भी परमार्थ का ही प्रतिपादक है; ''ज्ञान वह आत्मा''—इसप्रकार भेद करके कहनेवाला व्यवहार भी ''परमार्थरूप आत्मा'' ही बतलाता है; ''ज्ञान वह आत्मा''—ऐसा कहनेवाला व्यवहार कहीं राग को या पर को नहीं बतलाता; इसलिये तू भेद के सन्मुख देखते हुए न रुककर अभेद वस्तु को पकड़ लेना। व्यवहार से भेद करके कथन किया, उस समय कहनेवाले का आशय अभेद का प्रतिपादन करने का है और सामनेवाला श्रोता भी उस आशय को पकड़कर परमार्थ समझ जाता है; इसलिये वहाँ ''व्यवहार ने भी परमार्थ का ही प्रतिपादन किया''—ऐसा कहा जाता है। देखो, इसमें से तो ऐसा तात्पर्य निकलता है कि—कथन भले ही निश्चय से हो अथवा व्यवहार से हो, परन्तु परमार्थ स्वरूप समझकर उसी का आश्रय करने योग्य है; व्यवहारनय आश्रय करने योग्य नहीं है। जो जीव व्यवहार के आश्रय से लाभ होना माने, उसे तो निश्चय या व्यवहार का कुछ भी भान नहीं है; उसे आचार्यदेव ''अनादिरूढ़ व्यवहारमूढ़'' कहते हैं।

कोई ऐसा पूछे कि यदि व्यवहारनय परमार्थ का प्रतिपादक है तो उस व्यवहार का आश्रय क्यों न किया जाये? आचार्यदेव उसे उत्तर देते हैं कि अरे भाई! ''व्यवहारनय परमार्थ का ही प्रतिपादक है''—ऐसा कहकर हमने तो तुझसे परमार्थ का लक्ष करने को कहा था; उसके बदले यदि तू व्यवहार के आश्रय से लाभ मानकर उसी को चिपटा रहेगा तो तुझसे कहते हैं कि वह व्यवहार तो अभूतार्थ है, उसके आश्रय से लाभ नहीं है; इसलिये उसका आश्रय छोड़ और शुद्धनय द्वारा परमार्थ स्वभाव का अवलम्बन कर। जो शुद्धनय का आश्रय करते हैं, वे ही सम्यग्दृष्टि है, जो शुद्धनय का आश्रय नहीं करते और व्यवहार का आश्रय करते हैं, वे सम्यग्दृष्टि नहीं है। धर्मी जीव शुद्धनय के अवलम्बन से सहज एक ज्ञायकस्वभावरूप से अपने को अनुभव में लेते हैं। ऐसे शुद्धनय का आश्रय जीव ने पूर्व अनादि संसार में एक क्षण भी नहीं किया है। यदि एकबार भी ऐसे शुद्धनय का आश्रय करे तो अल्पकाल में मुक्ति हो जाये। इसप्रकार उपकारी श्रीगुरुओं ने शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जानकर उसका उपदेश प्रधानता से दिया है। शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है; उसका आश्रय करने से सम्यग्दृष्टि हुआ जा सकता है; इसे जाने बिना जबतक जीव व्यवहार में मग्न

है, तबतक शुद्ध आत्मा के ज्ञान-श्रद्धारूप निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं होता और संसारपरिभ्रमण दूर नहीं होता। शुद्धनय का ग्रहण करना ही सर्व शास्त्रों का निचोड़ है और वही मोक्ष का उपाय है। नाटक समयसार में कहा है कि :—

यह निचोर या ग्रंथ को, यहै परम रस पोष।
तजै शुद्धनय बंध है, गहै शुद्धनय मोख॥

—शुद्धनय को छोड़ने से बंधन होता है और शुद्धनय के ग्रहण से मोक्ष होता है—ऐसा इस शास्त्र का निचोड़ है और यह बात परम तत्त्वरस की पुष्टि करनेवाली है।

देखो, यह मोक्ष का मार्ग! अज्ञानी "व्यवहार... व्यवहार" करते हैं और व्यवहार के आश्रय से मोक्ष होना मनाते हैं; उनके सामने यहाँ वीतरागी संतों की पुकार है कि शुद्ध स्वभाव के आश्रय से ही मोक्ष होता है; इसके अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से तीनकाल तीनलोक में मोक्ष नहीं होता। अरे मूढ़! तू व्यवहार के आश्रय से लाभ होना मानता है, परन्तु व्यवहार का आश्रय तो तू अनादि से कर ही रहा है, तथापि कल्याण क्यों नहीं हुआ? इसलिये समझ कि व्यवहार के आश्रय से कल्याण नहीं होता। भूतार्थस्वभाव के आश्रय से ही कल्याण होता है; परन्तु उसका आश्रय तो तूने कभी किया ही नहीं।

शुद्धनय के आश्रय के अतिरिक्त जो व्यवहार के आश्रय से लाभ होना मनाते हों; मिथ्यादृष्टि के दया-दान के शुभ परिणामों से परित-संसार होना मनाते हों, वे उपदेशक मिथ्यादृष्टि हैं तथा उनके माननेवाले जीव भी मिथ्यादृष्टि हैं। शुद्ध स्वभाव के आश्रय बिना भवकट्टी हो ही नहीं सकती। जिस शास्त्र में मिथ्यादृष्टि को भी दया-दानादि के भावों से परित-संसार होना कहा हो, उसमें "शुद्ध स्वभाव के आश्रय से लाभ होता है"—ऐसी बात यथार्थ हो ही नहीं सकती। राग के आश्रय से भी लाभ माने और शुद्ध आत्मा के आश्रय से भी लाभ माने—इन दो बातों का मेल नहीं बैठ सकता; क्योंकि यह दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं; जो शुद्ध आत्मा के आश्रय से लाभ होना माने, वह राग से लाभ होना मान ही नहीं सकता। और जो राग से लाभ मानता है, वह "शुद्ध आत्मा के आश्रय से लाभ होता है"—ऐसा यथार्थरूप से नहीं मान सकता। जिसमें मिथ्यादृष्टि को दया-दान के राग से भवकट्टी होना कहा हो, वैसे शास्त्र को जो जीव शास्त्ररूप से मानता हो, तथा वैसा कथन करने वाले को गुरुरूप से मानता हो,—वह जीव शुद्धात्मा के आश्रय से लाभ होने की बात करता हो तो वह बात उसके घर की नहीं है, परन्तु कहीं से चुराई हुई है। जो मिथ्यादृष्टि के राग से भव का

नाश होना कहे, उसके घर ''शुद्धात्मा के आश्रय से लाभ होता है''—इस बात की गंध भी कैसे हो सकती है ?

अज्ञानी जीव परमार्थरूप अभेद स्वभाव को नहीं जानते हैं, इसलिये उन्हें अभेद समझाने के लिये, व्यवहार से भेद करके कथन किया जाता है; परन्तु वहाँ भेद की प्रधानता नहीं है, किन्तु अभेद बतलाने का प्रयोजन है। परमार्थ स्वभाव समझाते हुए समझानेवाले आचार्य को तथा समझनेवाले शिष्य को बीच में गुणगुणी भेद के विकल्परूप व्यवहार आये बिना नहीं रहता, परन्तु वहाँ उनका आशय तो परमार्थ स्वभाव कहने का और समझने का है। वाणी में भेद आता हो, तथापि श्री आचार्यदेव का आशय अभेद कहने का ही है, और शिष्य को भेद का विकल्प होने पर भी उसकी उन्मुखता अभेद को पकड़ने की ओर है, और वह भेद का लक्ष छोड़कर अभेद स्वभाव को लक्ष में ले लेता है, इसलिये उसे तो व्यवहारनय ने भी परमार्थ ही बतलाया; इसप्रकार व्यवहार, परमार्थ का ही प्रतिपादक है। अभेद स्वभाव के अवलम्बन से अनुभव करने से भेद का विकल्प टूट जाता है; इसलिये भेदरूप व्यवहारनय अभूतार्थ है; वह अवलम्बन करने योग्य नहीं है।

व्यवहारनय को परमार्थ का प्रतिपादक कहा, वहाँ कोई जीव परकार्य को तो लक्ष में न ले और अकेले व्यवहार को ही पकड़कर रुक जाये तो उसे व्यवहार का अवलम्बन छुड़ाकर भूतार्थ स्वभाव की दृष्टि करने के लिये आचार्यदेव ग्यारहवीं गाथा में समझाते हैं। अरे भाई! हमने व्यवहार को परमार्थ का ही प्रतिपादक कहा, वह तो तुझे व्यवहार का लक्ष छुड़ाकर परमार्थ के लक्ष में पहुँचाने के लिये कहा था; परन्तु यदि तू उस व्यवहार का ही अवलम्बन करके रुक जायेगा तो परमार्थ स्वरूप आत्मा तेरी समझ में नहीं आयेगा, क्योंकि व्यवहारनय तो अभूतार्थ है, उसके अवलम्बन से शुद्ध आत्मा का ज्ञान नहीं होता; इसलिए वह अवलम्बन करने योग्य नहीं है। भूतार्थ स्वभाव को बतलानेवाला शुद्धनय (निश्चयनय) ही अवलम्बन करने योग्य है।—ऐसा श्री गुरुओं का उपदेश है।

जिसप्रकार अँगुली, चन्द्र को बतलानेवाली है, परन्तु अँगुली स्वयं चन्द्र नहीं है; उसी प्रकार व्यवहार, परमार्थ को बतलानेवाला है, परन्तु वह स्वयं परमार्थ नहीं है, इसलिए अंगीकार तो परमार्थ को ही करना, व्यवहार को अंगीकार मत करना। जिस प्रकार अँगुली के सन्मुख देखता रहे तो चन्द्र दिखलाई नहीं देता; परन्तु यदि अँगुली का लक्ष छोड़कर सीधा चंद्रमा पर लक्ष करे तो अँगुली ने चन्द्र को बतलाया—ऐसा कहा जाता है; उसी प्रकार अभेद आत्मस्वरूप समझाने के

लिए व्यवहार से भेद करके कहा हो, वहाँ उस भेद के ही सामने देखता रहे तो आत्मा का परमार्थ स्वरूप समझ में नहीं आ सकता; परन्तु उस भेदरूप व्यवहार का लक्ष छोड़कर यदि सीधा अभेदस्वभाव को लक्ष में ले ले तो वहाँ व्यवहार को परमार्थ का प्रतिपादक कहा जाता है। परन्तु जो जीव व्यवहार के ही आश्रय में रुक जाये और व्यवहार का लक्ष छोड़कर परमार्थ को लक्ष में न ले तो उसके लिये ''व्यवहार, परमार्थ का प्रतिपादक है''—यह बात लागू नहीं होती।

देखो, शास्त्रों में स्त्री के शरीर का सर्वांग वर्णन किया हो, परन्तु वहाँ संतों का आशय तो वैराग्य कराने का है, इसलिए वह विकथा नहीं है किन्तु वीतरागी कथा है। वह वर्णन सुनकर यदि कोई अशुभराग करे तो उसके लिये वह विकथा है; और यदि वैराग्य परिणाम करे तो वह वीतरागी कथा है।—इस प्रकार विकथा या वीतरागी कथा जीव के भावानुसार कहलाती है; उसीप्रकार व्यवहार से भेद करके समझाने से जिस जीव ने परमार्थ को लक्ष में ले लिया है, उस जीव के लिए ''व्यवहार ने भी परमार्थ का ही प्रतिपादन किया''—ऐसा कहा जाता है।

इसप्रकार दूसरा दृष्टान्त सप्तभंगी का लो। छद्मस्थ की वाणी में एकसाथ सात भंगों का कथन नहीं आता; परन्तु जिस वाक्य द्वारा समझनेवाला प्रमाण सप्तभंगी को समझ जाये, वहाँ उस वाक्य को प्रमाण सप्तभंगी का वाक्य कहा जाता है; और समझनेवाला नय सप्तभंगी को समझे तो उसी वाक्य को नयप्ररूपणा कहा जाता है। सप्तभंगी का परिपूर्ण कथन तो एक वाक्य में नहीं आता, परन्तु समझनेवाला उसीप्रकार का आशय समझ जाता है; इसलिए वहाँ वाणी ने भी उसका प्रतिपादन किया–ऐसा कहा जाता है; इसप्रकार आत्मा का परमार्थ-स्वरूप समझाने के लिए कोई भी वचन बोलने से उसमें भेदरूप व्यवहार आये बिना नहीं रहता; इस अपेक्षा से परमार्थ स्वभाव को कथंचित् वचन अगोचर कहा जाता है; परन्तु सामनेवाला–समझनेवाला–जीव कथन करनेवाले के आशय को पकड़कर अभेद स्वभाव को समझ जाता है, इसलिए वहाँ उस वाणी ने भी परमार्थ का प्रतिपादन किया, ऐसा कहा जाता है; सामनेवाला जीव आशय समझ जाता है, उस अपेक्षा से परमार्थ कथंचित् वक्तव्य भी है।

किसी प्रकार के व्यवहार के अवलम्बन से परमार्थ आत्मा का अनुभव नहीं होता, इसलिए समस्त व्यवहारनय अभूतार्थ है। वहाँ व्यवहारनय को 'समस्त' विशेषण दिया है, इसलिए उससे विरुद्ध ऐसा परमार्थ निश्चय 'एक ही प्रकार का' है—यह बात उसमें आ जाती है; और वह एकरूप निश्चय-स्वभाव ही भूतार्थ होने से उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। इसलिए संतों ने जीवों के कल्याण हेतु से पुनः पुनः इसी के आश्रय का उपदेश दिया है।

शास्त्र में ऐसा कथन आए कि ''शुद्धनय का आश्रय करना चाहिए;''—अब, शुद्धनय तो एक पर्याय है; तो क्या पर्याय का आश्रय करने को कहा है ? नहीं; पर्याय का आश्रय करने को नहीं कहा, परन्तु शुद्धनय के विषयभूत जो अखण्ड द्रव्य है, उसका आश्रय करने को कहा है; वह कथन तो नय और नय के विषय को अभेद करके कहा है। शुद्धनय कब होता है ?—जब अखण्ड द्रव्य की ओर देखे तब; इसलिए शुद्धनय का आश्रय करने को कहने से भी अखण्ड द्रव्य की ओर देखना ही आया।

अध्यात्म में अनेक बार नय और नय के विषय का अभेदरूप से वर्णन किया जाता है। यहाँ ११ वीं गाथा में व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा और शुद्ध नय को भूतार्थ कहा; वहाँ शुद्धनय तो यद्यपि श्रुतज्ञान की पर्याय है और पर्याय तो अभूतार्थ है; परन्तु यहाँ वह पर्याय, द्रव्य में अभेद हुई है; इसलिये सम्पूर्ण को (द्रव्य-पर्याय की अभेदता हुई उसे) भूतार्थ कह दिया है। अनुभव के समय शुद्धनय की पर्याय पृथक् नहीं रहती परन्तु द्रव्य में अभेद हो जाती है; यदि भूतार्थ स्वभाव में अभेद न हो तो वह शुद्धनय ही नहीं है। शुद्धनय स्वयं श्रुतज्ञान की पर्याय होने पर भी उसका विषय भूतार्थरूप शुद्ध आत्मा है; वह भूतार्थ-स्वभाव में लक्ष करके अभेद होता है, इसलिये शुद्धनय को भी भूतार्थ कहा जाता है। शुद्ध आत्मा विषय और ज्ञान उसका ज्ञाता—ऐसे दो भेदों का लक्ष शुद्धनय की अनुभूति के समय नहीं होहता।

देखो भाई! यह बात सूक्ष्म है परन्तु समझने योग्य है; इसे समझने से अपूर्व कल्याण होता है; ऐसे आत्मा को पहिचानकर अंतर में उसका अनुभव करना, वह जैनधर्म का सार है। समस्त जिनशासन का सार क्या ?—शुद्ध आत्मा की अनुभूति! आगे पंद्रहवीं गाथा में आचार्यदेव कहेंगे कि जो इस शुद्ध आत्मा की अनुभूति है, वह निश्चय से समस्त जिनशासन की अनुभूति है। अहो! वहाँ तो आचार्यदेव ने अलौकिक बात कही है; समस्त जैन-शासन का रहस्य बतला दिया है।

—[श्री समयसार गाथा ८ से ११ के प्रवचनों से]

❁

ग्राहकों से निवेदन

निवेदन है कि बड़े दिन और नये वर्ष की छुट्टियों के कारण प्रेस बंद रहने से इस अंक में चार पृष्ठ कम दिये जा रहे हैं; जिनकी पूर्ति अगले अंक में कर दी जायगी। ग्राहक महानुभाव क्षमा करें।

— प्रकाशक

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की

कुछ शक्तियाँ

आत्मा को ज्ञानमात्र कहकर बतलाया है, तथापि ज्ञानमात्रभाव के साथ अन्य अनंतधर्म भी विद्यमान हैं, इसलिये अनेकान्तस्वभाव वाला है। अनेकान्तस्वरूप आत्मा में अनंत-शक्तियाँ विद्यमान हैं; उनमें से समयसार के परिशिष्ट में श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने ४७ शक्तियों का वर्णन किया है; उन शक्तियों का यह विवेचन चल रहा है। अभी तक ११ शक्तियों का वर्णन हो चुका है वह निम्नानुसार हैं:—

(१) जीवत्वशक्ति — इस शक्ति से आत्मा चैतन्यमात्र भावरूपी भावप्राणों को धारण करके त्रिकाल जी रहा है।

(२) चितिशक्ति — अजड़त्व स्वरूप अर्थात् चेतनस्वरूप ऐसी चितिशक्ति आत्मा में त्रिकाल है।

(३) दृशिशक्ति — अनाकार उपयोगरूप दृशिशक्ति है, वह पदार्थों को सत्तामात्र देखती है।

(४) ज्ञानशक्ति — साकार उपयोगरूप ज्ञानशक्ति है, वह ज्ञेयपदार्थों को विशेषरूप से जानती है।

(५) सुखशक्ति — अनाकुलता स्वरूप सुखशक्ति आत्मा में त्रिकाल है।

(६) वीर्यशक्ति — वह स्वरूप की रचना के सामर्थ्यरूप है, अर्थात् आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय की रचना आत्मा की वीर्यशक्ति से है।

(७) प्रभुत्वशक्ति — अखण्डित प्रतापवाली स्वतंत्रता से शोभित ऐसी प्रभुत्वशक्ति आत्मा में त्रिकाल है।

(८) विभुत्वशक्ति — सर्व भावों में व्यापक ऐसी एकभावरूप विभुत्वशक्ति है।

(९) सर्वदर्शित्वशक्ति — वह समस्त विश्व के सामान्यभाव को देखने रूप परिणमित ऐसे आत्मदर्शनमय है।

(१०) सर्वज्ञत्वशक्ति — यह शक्ति समस्त विश्व के विशेषभावों को जाननेरूप परिणमित ऐसे आत्मज्ञानमय है। अहो! इस शक्ति के वर्णन में आत्मा की सर्वज्ञता की अद्‌भुत महिमा गायी है।

(११) स्वच्छत्वशक्ति — आत्मा की इस शक्ति के कारण उसके उपयोग में लोकालोक के आकार प्रकाशित होते हैं।

— इसप्रकार अभी तक उपरोक्त ग्यारह शक्तियों का वर्णन सविस्तार आ गया है; तत्पश्चात् आगे का वर्णन अगले अंक में दिया जायेगा।

आत्मा के ज्ञानमात्र भाव में यह सर्व शक्तियाँ एकसाथ विद्यमान हैं, इसलिये उन शक्तियों की प्रतीति करते हुए शक्तिमान ऐसा अखंड आत्मा ही प्रतीति में आ जाता है। इन शक्तियों द्वारा अनंत शक्तियों के आधारभूत ऐसे अभेद चैतन्यपिण्ड को दृष्टि में लेने का ही प्रयोजन है।

[क्रमशः]

हितोपदेश

श्री मुनिराज निस्पृह करुणाबुद्धि से कहते हैं कि—अल्पकाल में जिन्हें भवरहित होना है—ऐसे निकट भव्य जीव इस शुद्ध आत्मा का आदर करो! उसके अनुभव का अभ्यास करो। इस दुर्लभ मनुष्यभव में भी यदि अपने शुद्ध स्वभाव को जानकर उसका आदर नहीं किया, तो फिर ऐसा सुअवसर कब प्राप्त होगा?

[—नियमसार प्रवचनों से]

धर्मी जीव की प्रवृत्ति

धर्मी जीव को कैसे प्रवृत्ति से धर्म होता है, वह यहाँ समझाया है : धर्मी जीवों को देहादि की बाह्य प्रवृत्ति के कारण धर्म होता होगा—ऐसा अज्ञानियों को बाह्यदृष्टि से लगता है परन्तु वह तो मात्र भ्रमणा ही है। धर्मात्मा तो अपने शुद्ध आत्मा को, देहादि समस्त पर पदार्थों से भिन्न जानकर उसी में प्रवृत्ति करते हैं और उस शुद्धात्मप्रवृत्ति से ही धर्मी को धर्म होता है। इसप्रकार अपने शुद्धात्मा को जानकर उसमें प्रवृत्ति करना ही धर्मी जीव की प्रवृत्ति है। ऐसी शुद्धात्मप्रवृत्ति कैसे होती है, वह इस प्रवचन में पूज्य स्वामीजी समझाते हैं।

❁ आत्मा को किस प्रवृत्ति से धर्म होता है, उसकी यह बात है। आत्मा के धर्म की प्रवृत्ति आत्मा से बाहर नहीं होती। शरीरादि पदार्थ आत्मा से बाहर हैं; उनमें आत्मा के धर्म की प्रवृत्ति नहीं रहती। प्रथम जो जीव, देहादि से भिन्न अपने शुद्ध आत्मा को जाने, उसे उसमें प्रवृत्ति होती है; और ऐसी शुद्धात्मा में प्रवृत्ति करने का नाम धर्म है। जिसने अपने शुद्धात्मा को नहीं जाना, उसे उसमें प्रवृत्ति रूप धर्म नहीं होता। शरीरादि परवस्तुएँ अथवा उनके लक्ष से होनेवाले शुभाशुभभाव, वे कोई मुझे शरणभूत नहीं हैं; मैं उनसे रहित शुद्ध ज्ञानस्वरूप हूँ; मेरा ध्रुव आत्मा ही मुझे शरणभूत है—ऐसा जिसने जाना है, उसे उसी में प्रवृत्ति द्वारा धर्म होता है।

''मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ; शरीरादि कोई परपदार्थ मुझे शरणभूत नहीं हैं; क्षणिक अवस्था में जो विकार होता है, वह भी मेरा स्थायी स्वरूप नहीं है। मैं नित्य स्थायी ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप से ध्रुव हूँ—ऐसा मेरा ध्रुव स्वभाव ही मुझे शरणभूत है''—इसप्रकार शुद्धात्मा को जानकर उसी में प्रवृत्ति द्वारा शुद्धात्मपना होता है। ध्रुव आत्मा को जानकर उसमें प्रवृत्ति करना ही धर्म है; और वही धर्मी जीव की प्रवृत्ति है।

शुद्धात्मा का ज्ञान और उसमें प्रवृत्ति—इसप्रकार क्रम से बात समझाई है; परन्तु वास्तव में तो जहाँ शुद्धात्मा की ओर उन्मुख होकर उसका ज्ञान किया, वहाँ उस ज्ञान के साथ ही शुद्धात्मा में

प्रवृत्ति हो गई और मोह का क्षय हो गया। प्रथम शुद्ध आत्मा को जाना, पश्चात् उसमें प्रवृत्ति हुई और पश्चात् मोह का क्षय हुआ—ऐसे क्रमभेद नहीं हैं।

❁ देखो यह प्रवृत्ति! देह की अथवा शुभराग की प्रवृत्ति से धर्म नहीं होता परन्तु शुद्धात्मा में प्रवृत्ति से ही धर्म होता है। प्रथम सत्समागम से ऐसे शुद्ध आत्मा को लक्ष में लेना चाहिए। ज्ञान को अंतरोन्मुख करके शुद्ध आत्मा को जानने से अंतर में पर से भिन्न होने की प्रवृत्तिरूप जो क्रिया हो, वह धर्म है। इसलिये देहादि की प्रवृत्ति से धर्म होता है—ऐसी मान्यता छोड़कर शुद्धात्मा में प्रवृत्तिरूप क्रिया का अभ्यास करना चाहिए। स्थूल दृष्टिवाले लोग शरीर के हलन-चलन का नाम ही 'क्रिया' कहते हैं; परन्तु मात्र शरीर के हलन-चलन का नाम ही 'क्रिया' नहीं है, किन्तु अन्तरात्मा को पहिचानकर उसमें एकाग्र होना भी क्रिया है और वही धर्मात्मा की धर्मक्रिया है। शरीर की क्रिया तो जड़ की क्रिया है।

❁ जो जीव शुद्धात्मा को जानता है, उसे उसी में प्रवृत्ति द्वारा शुद्धता होती है; किसी भी बाह्य प्रवृत्ति से आत्मा को शुद्धता हो—ऐसा नहीं होता। किसी को ऐसा लगे कि शुद्ध आत्मा को जानने के पश्चात् तो कोई बाह्य प्रवृत्ति करना आता होगा न?—तो कहते हैं कि नहीं; शुद्ध आत्मा को जानने से पूर्व या पश्चात् कभी भी बाह्य प्रवृत्ति तो आत्मा कर ही नहीं सकता; अधिक से अधिक जीव अपने में राग-द्वेष-मोह की प्रवृत्ति कर सकता है। मेरा शुद्ध आत्मा ध्रुव है, वही मुझे शरणभूत है; इसके अतिरिक्त समस्त परद्रव्यों का संयोग अध्रुव है; वह मुझे शरणभूत नहीं है—ऐसा सत्समागम द्वारा पात्रता से जानकर अपने शुद्ध आत्मा में प्रवृत्ति करना, वह धर्म है, और यही धर्मी जीव की प्रवृत्ति है।

शरीर-मन-वाणी आदि जड़ की अवस्था से पृथक् और पुण्य-पाप की वृत्ति से पार ध्रुव ज्ञानानन्द स्वभावी मेरा आत्मा ही मुझे शरणभूत है। कोई भी संयोग मुझे शरणरूप नहीं है; और उस संयोग के लक्ष से पर्याय में जो क्षणिक शुभाशुभ परिणाम होते हैं; उन विकारी परिणामों द्वारा बाह्य में कुछ भी नहीं होता, और न उन परिणामों द्वारा अन्तर स्वभावोन्मुख हुआ जाता है, इसलिये वे विकारी परिणाम निरर्थक हैं; वे कोई मुझे शरणभूत नहीं हैं; मेरा चैतन्यस्वभाव ही ध्रुव होने से मुझे शरणभूत है।—इसप्रकार जिसने अपने शुद्ध आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान किये, उसे उन्हीं में प्रवृत्ति द्वारा शुद्धात्मपना होता है; इसके अतिरिक्त अन्य किसी कारण से शुद्धात्मपना नहीं होता। शुद्ध-आत्मस्वभाव को जान लेने के पश्चात् अन्य किसी प्रवृत्ति से शुद्धता नहीं होती परन्तु बाद में भी उस

शुद्धात्मा में ही प्रवृत्ति से आत्मा को शुद्धता होती है। बाह्य प्रवृत्ति तो आत्मा कर ही नहीं सकता, इसलिये पहले या बाद में वह करने का प्रश्न ही नहीं रहता। पर से तो आत्मा त्रिकाल भिन्न है। पर से भिन्न शुद्ध आत्मा को जान लेने के पश्चात् उसी में प्रवृत्ति से मोह का नाश होता है; इससे भिन्न मोहक्षय का अन्य कोई उपाय नहीं है।

❁ कई लोग पूछते हैं कि आत्मा को समझ लेने के पश्चात् तो इन देहादि की क्रिया करना आयेगा न? परन्तु ज्ञानी कहते हैं अरे भाई! आत्मा जो कर सकता हो, उसी में पहले या पश्चात् करने का प्रश्न उठेगा न? देहादि की क्रिया—जो कि आत्मा कभी किसी प्रकार कर ही नहीं सकता, उसमें प्रथम या पश्चात् करने का प्रश्न ही कहाँ रहा? जैसे कोई पूछे कि खरगोश के सींग इसी समय काटना है या फिर कभी?—लेकिन खरगोश के सींग ही नहीं हैं तो फिर उसमें 'इसी समय' या 'फिर' काटने का प्रश्न ही कहाँ से होगा? उसीप्रकार कोई कहे—शरीरादि की क्रिया करना बाद में तो आयेगा न? तो ज्ञानी कहते हैं कि अरे भाई! तू इतना तो समझ कि तू आत्मा है, सदा अरूपी है और यह शरीर तो रूपी जड़ है; उस जड़ की क्रिया तू नहीं कर सकता। यदि इतना समझ ले तो 'शरीर की क्रिया कब करना'—ऐसा प्रश्न ही नहीं उठेगा। पहले या बाद में जो किया जा सकता हो वह करना आयेगा, या जो नहीं किया जा सकता वह? पहले अज्ञानभाव के समय भी जीव मात्र विकार को ही करता है; शरीर की क्रिया को तो उसने कभी नहीं किया है। और समझ लेने के पश्चात् भी आत्मा में एकाग्रतारूपी क्रिया का करना ही आता है। अपने शुद्ध ध्रुवस्वभाव को जानकर उसी में प्रवृत्ति से धर्म होता है। बीच में पूजा-भक्ति-दया-दान-यात्रा-स्वाध्याय-व्रतादि शुभभावरूप प्रवृत्ति आती है परन्तु उस प्रवृत्ति से धर्म नहीं है। साक्षात् सर्वज्ञदेव की ओर का राग भी पुण्यवृत्ति है, धर्मप्रवृत्ति नहीं। बीच में धर्मी को वह शुभराग भले हो, परन्तु उस राग की प्रवृत्ति द्वारा कल्याण नहीं होता; कल्याण तो शुद्ध आत्मा में प्रवृत्ति से ही होता है। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र—यह तीनों शुद्ध आत्मा में प्रवृत्ति से ही होते हैं।

किसी निमित्त के अवलम्बन द्वारा, विकार द्वारा या व्यवहार की शुभ प्रवृत्ति द्वारा धर्म नहीं होता, परन्तु शुद्ध आत्मा में प्रवृत्ति द्वारा ही धर्म होता है। धर्मी जीव प्रतिक्षण ऐसी प्रवृत्ति करता है; धर्मी जीव की यह प्रवृत्ति अज्ञानी को बाह्य आँखों से दिखाई नहीं दे सकती। और अज्ञानी जीव प्रतिक्षण बाह्य प्रवृत्ति का अहंकार भाव करके अपने में अधर्म की प्रवृत्ति करता है। धर्म किसी बाह्य प्रवृत्ति से प्राप्त होनेवाली वस्तु नहीं है परन्तु आत्मा की स्वतंत्र स्वावलम्बी दशा है; वह आत्मा में ही प्रवृत्ति से होती है।

पहले मार्ग का निर्णय करना चाहिए कि धर्म का मार्ग क्या है ? कहाँ एकाग्रता करने से मेरा हित होगा ? अपने शुद्ध चैतन्यघन स्वभाव को ध्रुव जानकर उसमें एकाग्रता करूँ, वही मेरा धर्म है; अन्य प्रवृत्ति बीच में आती हो तो भले आये, परन्तु उसमें मेरा धर्म नहीं है। संयोग और निमित्त तो मुझसे बिलकुल पृथक् परवस्तु हैं, उनके द्वारा मेरा कल्याण नहीं होता; और पुण्यपरिणाम भी पराश्रित विकारी भाव है, उसके द्वारा भी मेरा कल्याण नहीं है। संयोगों से और विकार से भिन्न मैं ज्ञातास्वभावी ध्रुव हूँ, मेरे ध्रुवस्वभाव के आश्रय से ही मेरा कल्याण है—ऐसा जिसने ज्ञान द्वारा निश्चय किया, उसे उसी में प्रवृत्ति से कल्याण होता है। ऐसी धर्म की रीति है।

❁ अहो ! ज्ञानप्रकाशी भगवान आत्मा का निर्णय किए बिना जीव को कभी धर्म नहीं हो सकता। अनंतकाल में जीव ने सबकुछ किया परन्तु ''मैं स्वयं ज्ञान-स्वभावी हूँ''—इसप्रकार अपने स्वभाव का निर्णय कभी नहीं किया। स्वसन्मुख होकर ''मैं ज्ञान हूँ''—ऐसा निर्णय करना, वह अनंतकाल में नहीं की हुई अपूर्व वस्तु है। ''मैं ज्ञान हूँ''—इसप्रकार अंतर में ज्ञानवस्तु का निर्णय और अनुभव करना, वह समस्त जैनशासन का सार है। कुंदकुंद भगवान भी श्री समयसार की १५ वीं गाथा में कहते हैं कि जो इन अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त—ऐसे पाँच भावों स्वरूप आत्मा की अनुभूति है, वह निश्चय के समस्त जिनशासन की अनुभूति है। कोई प्रश्न करे कि पहले हमें क्या करना चाहिए ? तो कहते हैं कि ''मैं ज्ञानस्वरूप हूँ''—ऐसा अंतर में निर्णय करके उसका अनुभव करना चाहिए। पात्र होकर अंतर में यह बात समझना चाहे तो आठ वर्ष की बालिका भी क्षणभर में समझ जाती है और न समझना चाहे तो द्रव्यलिंगी होकर अरबों वर्ष तक व्यवहार-चारित्र पालन करनेवाला भी नहीं समझ पाता। अंतर में शुद्ध आत्मतत्त्व के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र रुचि पड़ी हो तो यह बात कैसे समझ में आयेगी ? जिसके अंतर में शुद्धात्मा समझने की रुचि हो, वही इस बात को यथार्थ रूप से समझ सकता है। और जो जीव इस बात को समझ ले उसका ज्ञान और वैराग्य भिन्न जाति का होता है।

❁ आत्मा में सम्यग्दर्शन कैसे हो और मोह कैसे दूर हो, उसकी यह बात है। शुद्धात्मा को ध्रुव जानकर उसमें प्रवृत्ति करने से सम्यग्दर्शन होता है और मोह दूर होता है। वास्तव में शुद्धात्मा का ज्ञान और उसमें प्रवृत्ति—दोनों एकसाथ ही हैं। जहाँ शुद्धात्मा को जाना, वहाँ ज्ञान उस ओर उन्मुख हो गया—इसलिये शुद्धात्मा में प्रवृत्ति हो ही गई। कोई ऐसा कहे कि ''हमने शुद्ध आत्मा को जान लिया है परन्तु हमारी प्रवृत्ति तो बाहर ही घूमती है, शुद्ध आत्मा में बिलकुल प्रवृत्ति नहीं

होती''—तो ऐसा कहनेवाले ने शुद्ध आत्मा को जाना ही नहीं है। शुद्ध आत्मा की अपार महिमा को जान ले और उसमें श्रद्धा-ज्ञान की प्रवृत्ति न हो—ऐसा हो ही नहीं सकता। यहाँ प्रथम तो सम्यग्दर्शन की प्रवृत्ति की बात है; वही प्रथम धर्म है; इसके अतिरिक्त मिथ्यादृष्टि अन्य रीति से धर्म मनाते हैं, वह धर्म की रीति नहीं है।

❁ श्री जिनमंदिर, जिनप्रतिमा—इत्यादि बाह्य में तो जिस समय जो होना है, उससमय वह उसके अपने कारण से होता है; जिसे धर्म का प्रेम हो, ऐसे जीव को अपने कारण उसप्रकार का शुभभाव होता है, परन्तु बाह्यक्रिया उसके शुभभाव के कारण नहीं होती; और बाह्य में जिनमंदिर आदि की रचना होना थी, उसके कारण जीव को शुभराग हुआ है—ऐसा भी नहीं है। प्रत्येक तत्त्व भिन्न-भिन्न स्वतंत्र हैं। बाह्य की जो क्रिया हुई, उससे तो जीव को धर्म नहीं होता, और शुभभाव से भी धर्म नहीं होता। संयोग तथा राग से रहित ऐसे आत्मस्वभाव को समझे तो अपने आत्मा में धर्म की प्रतिष्ठा हो, और उसी ने अपने आत्मा में भगवान की प्रतिष्ठा की है। ''सिद्ध समान सदा पद मेरा''—इसप्रकार अपने आत्मा में जिसने सिद्धत्व की स्थापना की, उसने आत्मा में भगवान की स्थापना की है, और वही जीव भगवान का नंदन हुआ है।

जिनमंदिर का निर्माण कराके उसमें वीतरागी भगवान की प्रतिष्ठा करूँ—ऐसा शुभविचार तो ज्ञानी और अज्ञानी—दोनों को आता है; परन्तु ''बाह्यक्रिया मैं करता हूँ''—ऐसी विपरीत मान्यतावाला अज्ञानी जीव मिथ्यात्व के महान पापसहित अल्प पुण्यबन्ध करता है और धर्मात्मा ज्ञानी को उस शुभ के समय चिदानंदमूर्ति शुद्ध आत्मा का अंतर में भान है; ''इस शुभ द्वारा मैं बाह्य कार्य करता हूँ''—ऐसा वे स्वप्न में भी नहीं मानते, और उस शुभराग से आत्मा को धर्म होता है—ऐसा भी नहीं मानते। शुभ विकल्प के समय भी अंतर की सम्यक्श्रद्धा के बल से शुद्ध आत्मा के ओर की उन्मुखता रहती है, उसी से धर्मी को धर्म होता है। इसप्रकार धर्म का आधार तो आत्मा ही है। लोग बाह्यप्रवृत्ति के आधार से धर्म मानकर भटक रहे हैं; परन्तु आत्मा अपने स्वभाव से शुभराग का भी कर्ता नहीं है, तब फिर बाह्य में जड़ की प्रवृत्ति आत्मा करे और उससे आत्मा को धर्म हो—यह बात ही कहाँ रही ?—यह तो मात्र अज्ञानी जीवों की भ्रमणा है।

[—प्रवचनसार गाथा १९४ के प्रवचन से]

शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से

मोह का नाश होता है

❁ भगवान! अनादिकाल से आत्मा की भ्रान्ति के कारण तू इस संसार में भटक रहा है; उस भ्रान्ति को और संसारभ्रमण को दूर करने का उपाय क्या? उसकी यह बात है। शरीर-मन-वाणी इत्यादि जड़ की क्रिया मैं करता हूँ—ऐसी मान्यता, अथवा विषयभोगों में सुख है—ऐसी मान्यता, वह भ्रम है, अज्ञान है—अधर्म है—दु:ख है। वह कैसे दूर हो?—ऐसी जिसे जिज्ञासा हो, उसे उसका उपाय आचार्यदेव समझाते हैं। मैं बाह्य पदार्थों से अत्यन्त भिन्न हूँ, कोई बाह्य पदार्थ मुझे शरणभूत नहीं हैं; मेरा शुद्ध आत्मा ध्रुव है, वही मुझे शरणभूत है, उसी में मेरा सुख है—इसप्रकार शुद्ध आत्मा का अनुभव करने से उसमें प्रवृत्ति द्वारा आत्मा की शुद्धता होती है और अनादिकालीन भ्रमणा का नाश हो जाता है। यही भ्रमणा को दूर करने का उपाय है।

❁ सम्यग्दर्शन कैसे होता है और मिथ्यात्व कैसे दूर होता है?—उसकी यह रीति कही जाती है। शुद्धात्मा का ध्रुव जानकर उसमें प्रवृत्ति द्वारा ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है। मेरे लिये मेरा शुद्ध आत्मा ही ध्रुव है और अन्य सब अध्रुव हैं; इसलिये मुझे अपना शुद्ध आत्मा ही उपलब्ध करने योग्य है—ऐसा निर्णय करके शुद्धात्मा की उपलब्धि से मोह का क्षय होता है। साधक को बीच में शुभरागरूप व्यवहार आता है, परन्तु वह निर्मलता का कारण नहीं है; निर्मलता तो शुद्धात्मा में प्रवृत्ति से ही होती है। सम्यग्दर्शन के पश्चात् भी प्रतिक्षण शुद्धात्मा में प्रवृत्ति ही चाहिरत्र की वृद्धि का कारण है। जितना राग हो, वह शुद्धात्मा में प्रवृत्ति की कचास के कारण होता है। ''शुद्ध आत्मा में प्रवृत्ति''— ऐसा कहकर उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों का समावेश कर दिया है; यही मोहक्षय की रीति है।

❁ जो यथार्थ विधि द्वारा अपने शुद्धात्मा को ध्रुव जानता है, उसे उसी में प्रवृत्ति द्वारा शुद्धात्मत्व होता है; उस शुद्धात्मत्व की प्राप्ति के कारण अनंतशक्ति वाले चिन्मात्र परम आत्मा का एकाग्र संचेतन-लक्षण ध्यान होता है; और उससे अनादि संसार से बंधी हुई अतिदृढ़ मोह दुर्ग्रंथि छूट जाती है। ध्रुव शुद्धात्मा का ज्ञान, उसमें प्रवृत्ति और मिथ्यात्व का नाश एक साथ ही है परन्तु यहाँ

क्रमानुसार समझाया है। वाणी से कहने में देर लगती है परन्तु समझने और स्थिर होने में देर नहीं लगती। शुद्धआत्मा में एकाग्र हुआ, वहीं अनंत चैतन्यशक्तिवाले परमात्मस्वभाव का एकाग्रतारूप ध्यान हुआ। ''चिन्ता का निरोध वह ध्यान''—यह बात नास्ति से है, वह ध्यान का सच्चा लक्षण नहीं है। परन्तु अकेले शुद्धात्मस्वभाव का ही संचेतन रह जाये और अन्य चिन्ता छूट जाये, उसका नाम सच्चा ध्यान है; ऐसे आत्मध्यान से मोह का क्षय होकर संसार परिभ्रमण दूर होता है।

❁ ध्यान करनेवाले को प्रथम तो जिस पदार्थ का ध्यान करना है, उसकी पहिचान करना चाहिए। पदार्थ का स्वरूप जाने बिना उसका ध्यान नहीं हो सकता। अभी जिसे सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की भी श्रद्धा न हो, उसे तो शुद्धात्मा का ध्यान करने की पात्रता भी नहीं होती। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को पहिचानकर उनके पास से शुद्धात्मा का स्वरूप जाने, उसे शुद्धात्मा के ध्यान द्वारा मोह का क्षय होता है। कैसा है आत्मा ? अनंतशक्तिवान चिन्मात्र है। उस चिन्मात्रस्वभाव में रागद्वेष नहीं है। आत्मा में अनंत चैतन्यशक्ति है अर्थात् अनंत का ज्ञान करे, वैसी शक्ति है; परन्तु किसी का कुछ कर दे या फेरफार दे, ऐसी शक्ति तो उसमें है ही नहीं। पर्याय में एक समय की मलिनता और अपूर्णता है, वह आत्मा का त्रिकाली स्वभाव नहीं है। एक समय के विकार का अस्तित्व भी पर्यायदृष्टि से है; द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से तो एक समय का विकार भी चैतन्यशक्तिसम्पन्न भगवान आत्मा में नहीं है; शुद्ध चिन्मात्र ही आत्मा है। जो जीव अंतर्मुख होकर ऐसे आत्मा को जाने, उसे उसमें प्रवृत्ति से मोह का नाश होता है।

आत्मा को ''ज्ञानमात्र'' कहकर उससे विरुद्ध भावों का निषेध किया है, अर्थात् ज्ञानमात्र आत्मा में पुण्य-पाप, राग-द्वेषादि विकारी भाव नहीं हैं, परन्तु ''ज्ञानमात्र'' कहने से कहीं उसके आनन्द-अस्तित्वादि गुण उसमें से निकल नहीं जाते; वे सब तो ''ज्ञानमात्र'' में अभेदरूप से आ जाते हैं।

❁ आत्मा को अपना शुद्धआत्मा ही ध्रुव है; इसलिये वही शरणभूत है; इसके अतिरिक्त कोई पदार्थ आत्मा को शरणभूत नहीं है।—ऐसा निर्णय करके जिसने शुद्ध आत्मद्रव्य की शरण की, उसे उसके आश्रय से निर्मलदशा प्रगट हुई और ध्रुवद्रव्य के आश्रय से सदैव ऐसी की ऐसी निर्मल पर्याय होती ही रहेगी। अनंत-अनंत निर्मल पर्यायें प्रगट हों, तथापि आत्मा की स्वभावशक्ति किंचित् भी कम नहीं हो जाती। आत्मा में अनंतानंत केवलज्ञान की पर्यायें प्रगट होती रहें, ऐसी शक्ति वर्तमान में भरी है; इसलिये आत्मा अनंत चैतन्यशक्तिवाला है। आत्मा क्षेत्र से अनंत नहीं है

परन्तु शक्ति से अनंत है। आत्मा का क्षेत्र मर्यादित है परन्तु उसका ज्ञान-सामर्थ्य अमर्यादित है; उस ज्ञान-सामर्थ्य द्वारा ही आत्मा की महिमा है, क्षेत्र से उसकी महिमा नहीं है। अंतर्मुख होकर एकाग्रता से केवलज्ञान होता है, केवलज्ञान के लिये कहीं बाह्य में विस्तृत होकर एकाग्र नहीं होना पड़ता। क्षेत्र से सर्वव्यापकता हो, तभी आत्मा को केवलज्ञान होता है—ऐसा जो मानता है, उसने आत्मा के ज्ञानस्वभाव को नहीं जाना है। क्षेत्र की विशालता से आत्मा की महिमा नहीं है परन्तु ज्ञानसामर्थ्य की स्वच्छतारूप विशालता से आत्मा की महिमा है। ज्ञान अपने स्वभाव में ही व्याप्त होकर लोकालोक को जानता है; परन्तु लोकालोक को जानने के लिये उसे लोकालोक में व्याप्त नहीं होना पड़ता। इसीप्रकार सम्यक्-श्रद्धादि भी अंतर में एकाग्रता से ही होते हैं; इसलिये अपने में ही अनंतशक्ति भरी है। जो ऐसे शुद्धात्मा को जाने, उसी को उसमें प्रवृत्ति द्वारा शुद्धात्मत्व होता है; और उसे अनंतशक्तिवाले चैतन्य में एकाग्र संचेतनरूप ध्यान होता है। यहाँ शुद्धात्मा का ज्ञान, उसमें प्रवृत्ति और उसका ध्यान—ऐसे तीन प्रकार कहे परन्तु वे तीनों भेदरूप नहीं हैं; एक साथ ही हैं। शुद्धात्मा में प्रवृत्ति से जहाँ शुद्धात्मत्व हुआ, वही जीव सम्यग्दृष्टि है और उसके मोहक्षय हो गया है।

❁ शुद्ध चैतन्यस्वरूप में एकाग्र होने से अन्य पदार्थों की चिन्ता छूट जाती है, उसका नाम ध्यान है। स्वरूप में एकाग्रता के बिना किसी प्रकार चिन्ता का निरोध नहीं होता। मैं परमोत्कृष्ट चैतन्यघन आनंदकंद हूँ—ऐसा जानकर उसमें एकाग्र हुआ, वहाँ एक शुद्ध आत्मा ही अग्र रहा अर्थात् एक शुद्धात्मा का विषय रहा; उपयोग शुद्ध आत्मा में स्थिर हो गया—यही चैतन्य का निर्विकल्प ध्यान है। ज्ञान का उपयोग चैतन्यस्वभाव में ही स्थिर हुआ, वहाँ अन्य विषयों में से चित्त का निरोध सहज ही हो जाता है। स्व की अस्ति में पर की नास्ति आ जाती है। शुद्ध आत्मा को ही ज्ञान का विषय बनाकर एकाग्र होने से निमित्त और विकारभावों पर से लक्ष हट गया और मात्र शुद्ध आत्मा का ही अनुभव रहा।—ऐसे अनुभव से आत्मा को शुद्धता होती है और मोह का क्षय हो जाता है।

—ऐसा अनुभव किसे होता है ? मेरा शुद्ध चैतन्यस्वरूप, वह स्वतत्त्व है और मेरे अतिरिक्त अन्य पदार्थ हैं, वे परतत्त्व हैं—इस प्रकार जगत में स्व और परतत्त्व हैं; वे स्वयं सिद्ध स्वतंत्र हैं और द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप हैं—ऐसा जानकर जो पर से भिन्न अपने ध्रुव स्वभाव की ओर उन्मुख हो, उसे शुद्धात्मा के अनुभवरूप ध्यान होता है। परन्तु यदि स्वतंत्र स्वयंसिद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को न माने, आत्मा से भिन्न परतत्त्वों को न माने, प्रत्येक आत्मा में अनंतगुण हैं, उन्हें न माने और आत्मा की वर्तमान अवस्था में विकार होता है, उसे न माने तो उस जीव को चैतन्यस्वभाव में एकाग्रतारूप

ध्यान करना नहीं बनता। ''एकाग्र संचेतनलक्षण ध्यान''—ऐसा कहकर आचार्यदेव ने ध्यान का महान लक्षण लिया है। चैतन्यस्वभाव के निर्णय बिना कोई मात्र राग-द्वेष को दूर करने की बात करे तो वह बात मिथ्या है। राग-द्वेष को दूर करना, वह नास्ति से है; किसकी अस्ति में रहकर उसकी नास्ति करेगा? राग-द्वेषरहित, अनंत चैतन्यशक्तिसंपन्न आत्मा को पहिचानकर उसमें एकाग्रता किए बिना राग-द्वेष-मोह दूर नहीं होते।

❁ ''ज्ञान मात्र भगवान'' आत्मा है, वह ज्ञाता-दृष्टा है, उसमें विकार का अभाव है परन्तु ज्ञान के साथ सुख, श्रद्धा, वीर्य, स्वच्छता, प्रभुतादि अनंत शक्तियाँ उसमें विद्यमान हैं। जो जीव चैतन्य का ध्यान करना चाहता है अर्थात् ध्रुवस्वभाव की ओर उन्मुख होकर उसमें एकाग्र होना चाहता है, उसे अनंतशक्ति से अभेदरूप चिन्मात्र आत्मा ख्याल में आता है; अनुभव में अकेला ज्ञान ही नहीं है परन्तु ज्ञान के साथ अनंतगुण भी होते हैं। ज्ञान स्व में एकाग्र हुआ, वहाँ शान्ति भी हुई अर्थात् सुख हुआ, वीर्य बाह्य में कार्य करता था, वह अंतरोन्मुख हुआ, ''मैं ज्ञायक हूँ''—ऐसा स्वीकारती हुई श्रद्धा स्वभावोन्मुख हुई, चारित्र की भी अंशत: स्वरूपरमणता हुई; इसप्रकार ध्रुव-चैतन्य में एकाग्रता से ज्ञानादि अनंत शक्ति की निर्मलता प्रगट होती है।

❁ पहले अपने शुद्ध चैतन्यतत्त्व को भूलकर जीव अपने को शरीरादि की क्रियारूप बाह्य प्रवृत्ति का कर्ता मानता था, वह अज्ञान था; उस समय तो वह क्षणिक पर्यायबुद्धि होने से राग-द्वेष ही करता था और उसी को भोगता था, इसलिये विकार में एकाग्रतारूप अधर्म-ध्यान था। अब अपने शुद्धस्वभाव को जानकर उस ओर उन्मुख होने से, पर में एकाग्रता दूर होकर शुद्ध आत्मस्वभाव में एकाग्रतारूप धर्मध्यान हुआ। स्वभाव में एकाग्र होने से विभाव का नाश हो जाता है। स्वभाव तो त्रिकाल ध्रुव रहनेवाला है और विभाव एक समयपर्यंत का है। अवस्था में एक समय की भूल से पर का शरण मानकर स्वयं अपने परिपूर्ण ध्रुव स्वभाव को भूल गया—''अपने को आप भूल के हैरान हो गया''—स्वयं अपने को भूलकर ही भटकता है, और स्वभाव की सँभाल करके उस भूल का नाश करके स्वयं भगवान होता है; कोई अन्य उसे परिभ्रमण नहीं कराता और न कोई तारता है; इसलिये आत्मा स्वयं ही अपना शत्रु और स्वयं ही अपना मित्र है। भगवान आत्मा विपरीतता में भी स्वतंत्र है और सीधेपन में भी स्वतंत्र है।

❁ प्रत्येक जीव अपने भाव को ही करता है और उसी को भोगता है; कोई जीव बाह्य की वस्तु का कर्ता या भोक्ता नहीं है। मुँह में लड्डू भरा हो, उसका स्वाद जड़ में है, उसे आत्मा नहीं

भोगता परन्तु स्वयं जो राग करता है, उसी को भोगता है। शरीर में तीव्र रोग हुआ हो, उस समय उस रोग को जीव नहीं भोगता, परन्तु यदि द्वेषभाव करे तो उस द्वेष का उपभोग करता है। शुद्ध आत्मा के अनुभव में धर्मी जीव राग-द्वेष का भी कर्ता या भोक्ता नहीं है; स्वभावदृष्टि में निर्मल पर्याय करता है और उसके आनंद का ही उपभोग करता है। जो पर का कर्तृत्व-भोक्तृत्व मानता है, वह जीव मिथ्यादृष्टि है, उसे पर से भिन्न अपने शुद्ध आत्मा का भान नहीं होता।

❁ मेरे कारण बाह्य व्यवस्था बराबर चलती है—ऐसा मानकर अज्ञानी जीव, पर की ओर के राग-द्वेष में ज्ञान को लीन करता है, वह बुरा ध्यान है; वह बदलकर श्रद्धा का बल ध्रुव आत्मस्वभाव की ओर ढलने से चैतन्य में एकाग्रता होती है, वह सम्यक्ज्ञान है। चैतन्य स्वभाव में एकाग्रता करना ही प्रारम्भ में, मध्य में और अंत में करने योग्य है; प्रारम्भ से अन्त तक वह एक ही मोक्षमार्ग है। चैतन्य में एकाग्रता के अतिरिक्त बीच में अन्य भाव आयें तो वह मोक्षमार्ग नहीं है—ऐसा जानना चाहिए।

चैतन्यतत्त्व को चूककर पर में एकाग्रता हो, वह बुरा ध्यान है; उसके दो प्रकार हैं—तीव्र विकार में एकाग्रता, वह रौद्रध्यान है और साधारण विकार में एकाग्रता, वह आर्त्तध्यान है। शांतिमूर्ति चैतनय में एकाग्र होने से वे दोनों प्रकार के कुध्यान नहीं रहते।

❁ मैं शुद्ध चैतन्यतत्त्व हूँ और मेरी वर्तमान अवस्था में राग-द्वेष हैं; उन्हें दूर करके मैं निर्मल परमानंद दशा प्रगट करना चाहता हूँ; और वह निर्मल आनंददशा प्रगट होने के पश्चात् उसका कभी नाश न हो—सदैव ज्यों की त्यों दशा बनी रहे—ऐसा करना चाहता हूँ। तो वह अनंतकालीन निर्मल परमानंददशा कहाँ से आयेगी ? जिसमें शक्तिरूप से इसीसमय विद्यमान हो, उसमें से वह प्रगट होती है। मेरे ध्रुव स्वभाव में अनंत निर्मलानन्द अवस्थाएँ प्रगट होने का सामर्थ्य वर्तमान में भरा है;—इसप्रकार अनंतशक्तिवान अपने ध्रुव चैतन्य परमेश्वर को लक्ष में लेकर उस एक का ही संचेतन रहे, वह मोक्ष का कारण है। राग का संचेतन रहे तो संसार का नाश नहीं हो सकता। सम्यग्दृष्टि को अस्थिरता का राग होने पर भी उसकी श्रद्धा में राग का संचेतन नहीं है किन्तु शुद्धात्मा का ही संचेतन है।

❁ अनेक लोग अन्तर में तत्त्व के निर्णय बिना ध्यान के बहाने मूढ़ता का सेवन करते हैं। एकाग्र-संचेतन वह ध्यान का लक्षण है और ध्रुव आत्मस्वभाव वह ध्यान का ध्येय है। जिसमें अकेले आत्मस्वभाव का अनुभव हो, वह आत्मध्यान है। ऐसा आत्मध्यान किसके होता है ? सब मिलकर एक ही आत्मा है—ऐसा जो मानता है, उसे पर से भिन्न शुद्ध आत्मा का ध्यान नहीं होता।

आत्मा पर का करता है अथवा पुण्य से धर्म होता है—ऐसा जो मानता है, उसे भी शुद्ध आत्मा का ध्यान नहीं होता। आत्मा को सर्वथा शुद्ध और कूटस्थ माने तो उसे भी ध्यान नहीं होता; और आत्मा को सर्वथा क्षणिक माने तो उसे भी ध्रुव के अवलम्बन बिना ध्यान कहाँ से होगा ? वस्तु का स्वरूप जैसा है, वैसा जाने बिना ध्यान नहीं हो सकता। प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है; ध्रुव स्वभाव से आत्मा निर्मल है और एक समय की अवस्था में विकार है; ध्रुव के अवलम्बन से वह विकार दूर होकर अविकारी पर्याय हो सकती है—इसप्रकार सभी पक्षों से वस्तुस्वरूप को जाने, उसी को स्वभाव के अवलम्बन से आत्मा का ध्यान होता है। इसप्रकार ध्यान का स्वरूप कहा, उसमें सारा व्यवहार तो आ जाता है, परन्तु उसकी मुख्यता नहीं है; क्योंकि मोह का क्षय तो ध्रुव स्वभाव के अवलम्बन से ही होता है। मोह का क्षय वह शुद्धात्मा की उपलब्धि का फल है; शुद्ध आत्मा की उपलब्धि, वह अस्ति है और मोह का क्षय, वह नास्ति है; दोनों एकसाथ ही हैं।

❁ चैतन्यस्वभाव को भूलकर राग-द्वेष को अपना माना, वह अनादि संसार से बंधी हुई मोहग्रंथि है। यद्यपि भूल तो एक ही समय की है, परन्तु उस भूल का प्रवाह अनादि से चला आ रहा है। यदि एकबार भी उस मिथ्या मान्यतारूपी मोह का सर्वथा क्षय कर दिया हो तो पुनः मिथ्यात्व न हो। जिसप्रकार चने में से पौधा और पौधे में से चना—इसप्रकार प्रवाहरूप से अनादि होने पर भी चने को सेककर उसकी उगने की योग्यता का नाश करने से वह प्रवाह रुक जाता है; उसी प्रकार आत्मा की पर्याय में भूल प्रवाहरूप से अनादिकालीन होने पर भी चैतन्य की सम्यक्श्रद्धा द्वारा क्षणभर में उसका नाश हो जाता है। मोह की ग्रन्थि को अति दृढ़ कहा, उसका अर्थ यह नहीं है कि वह कभी छूट ही नहीं सकती। विपरीत पुरुषार्थ से बंधी हुई मोह की अति दृढ़ ग्रंथि, स्वभाव के अपूर्व पुरुषार्थ द्वारा क्षणभर में छूट जाती है। मोह की अति दृढ़ ग्रंथि अनादिकालीन है, क्योंकि पूर्व अनादिकाल में कभी उसे छेदने का यथार्थ उपाय नहीं किया है। उस मोह का छेदन करने के लिये आत्मा के अपूर्व पुरुषार्थ की आवश्यकता है, वह पुरुषार्थ अपने हाथ में है; स्वयं जागृत होकर शुद्ध आत्मस्वभावोन्मुख होने का सम्यक् पुरुषार्थ करे तो उसी क्षण मोह की अति दृढ़ दुर्ग्रन्थि का छेदन हो जाये। जहाँ स्वयं अपने स्वभाव में एकाग्र हुआ, वहाँ परभाव में से एकाग्रता छूट गई और मोह का नाश हो गया।

—इसप्रकार शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से मोह का नाश होता है।

[— श्री प्रवचनसार गाथा १९४ के प्रवचन से]

राणपुर में जिनमन्दिर का

शिलारोपण

परमपूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के प्रभाव से वीतरागी जैनधर्म की प्रभावना दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है, और जगह-जगह जिनमन्दिर बन रहे हैं। पौष कृष्णा प्रतिपदा के दिन राणपुर में श्री महावीर भगवान के जिनमंदिर की शिलारोपण विधि पोरबन्दर निवासी सेठ श्री नेमीदास खुशालभाई के सुहस्त से हुई थी। शिलारोपण विधि के बाद सेठ श्री नेमिदासभाई ने उल्लासपूर्ण प्रासंगिक प्रवचन किया था और पूज्य गुरुदेव के प्रताप से ऐसे मंगलप्रसंग पुनः पुनः प्राप्त होते रहें —ऐसी भावना के साथ २५०१) अपने नाम से तथा २५०१ अपनी धर्मपत्नी के नाम से राणपुर के जिनमन्दिर को अर्पण किये थे। अन्य मुमुक्षुओं ने भी उल्लासपूर्वक रकमें प्रदान की थीं और कुल फंड १२६००) से भी अधिक हुआ था—जिसमें श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट की ओर से आये हुए २५०१) का भी समावेश हो जाता है।

इस मंगल प्रसंग पर राणपुर के सेठ श्री प्रेमचन्दभाई तथा श्री नारायणभाई आदि भक्तजनों को अत्यन्त उल्लास था। सोनगढ़ से पूज्य बहिन श्री बहिन के आ जाने से इस प्रसंग की शोभा और बढ़ गई थी।

इस मंगल प्रसंग की प्राप्ति के लिये राणपुर के मुमुक्षुओं को धन्यवाद।

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के आध्यात्मिक प्रवचनों का
अपूर्व लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों की—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार प्रवचन भाग १	६)	मूल में भूल	।।।)
समयसार प्रवचन भाग २	५)	मुक्ति का मार्ग	।।=)
समयसार प्रवचन भाग ३	४॥)	अनुभवप्रकाश	॥)
समयसार (हिंदी)		अष्टपाहुड़	३)
(मूल संस्कृत टीका सहित)	१०)	चिद्विलास	१=)
प्रवचनसार हिंदी		दसलक्षणधर्म	।।।)
(मूल संस्कृत टीका सहित)	५)	जैन बालपोथी	।)
आत्मावलोकन	१)	लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका	।) ।।
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें	१ ।=)	सम्यक्दर्शन	२)
द्वादशानुप्रेक्षा	२)	स्तोत्रत्रयी	।=)
अध्यात्मपाठसंग्रह	५॥)	भेदविज्ञानसार	२)
समयसार पद्यानुवाद	।)	पंचमेरु पूजन	।।।)
निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=) ॥		
'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक मूल्य	३)		
आत्मधर्म फाइलें १-२-३-५-६-७ वर्ष	प्रत्येक का ३॥)		

(डाकव्यय अतिरिक्त)

कुछ फाईलों का मूल्य २२॥) होता है लेकिन एक साथ लेने पर १७॥)

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभ-विद्यानगर
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ के लिये—जमनादास माणेकचंद रवाणी